डर

डरते-डरते

मुझे बचपन का पहला डर जो याद आता है वह था पानी का डर। यह उन दिनों की बात है जब मैं खिलचीपुर में कक्षा नौ-दस का विद्यार्थी था। तब मैं केवल पिताजी, मास्साब, स्कूल और गणित से डरा करता था। तब तक तो पानी से मुझे प्यार-सा था। हम तीनों भाई और यार-दोस्त गाँव के हर तालाब, कुएँ और बावड़ी में बिना आगा-पीछे सोचे कूद जाते थे। तब कहाँ समझते थे कि नामालूम पानी में उतरने के क्या खतरे हो सकते हैं? पानी से तो मैं तब भी नहीं डरा था जब तेज़ बारिश में सबलगढ़ के किले के पास का बाँध टूट गया था। सारा कस्बा पानी से भर गया था। हमने तेज़ बहती धार से भागकर पीछे की पहाड़ी पर जाकर अपनी जान बचाई थी। तेज़ी से अपने घर की तरफ आते पानी के रेले में अपनी आँखों के सामने सड़क और मैदान को गायब होते देखना डराने वाला अनुभव होना चाहिए था। परन्तु मैं रोमांचित ही ज़्यादा हुआ था। फिर क्या हुआ कि मैं पानी से डरने लग गया?

दरअसल, वहीं खिलचीपुर की नदी में यह हादसा हुआ। वह चौड़े पाट की गहरी नदी थी। ऐसी नदी में मैं पहले कभी नहीं तैरा था। शेखी में दोस्तों की देखा-देखी में भी कूद गया। लेकिन बीच नदी तक पहुँचते-पहुँचते एकदम थक गया – आगे तैरते ही न बना। मैं डूब रहा था। हाथ चलते ही नहीं थे। गहरा पानी! तेज़ धार! दूसरा किनारा बहुत दूर था और पहला किनारा कब का छूट चुका था। मैंने मौत और मौत के डर को एकदम अपने पास

देखा। बस, किसी तरह हिम्मत करके नदी पार तो कर गया लेकिन पानी का डर तब से हमेशा मेरे साथ रहा।

मैंने इस घटना से यह भी जाना कि मैं मूर्ख था जो यूँ अनजान कुओं-बावड़ियों और नदी में बस शेखी दिखाने के लिए कूद जाया करता था। मैंने जाना कि यह मेरा निडर होना नहीं था। कई बार ऐसी निडरता मूर्खतावश भी उठती है।

शुरू में मैंने गणित से डर की बात भी की। मैं गणित में बेहद अच्छा था परन्तु आत्मविश्वास था कि साथ नहीं देता था। सवाल सही-सही हल करने के बाद भी हमेशा डर लगा रहता था कि कहीं बाबूजी मास्साब तुकाई न कर दें। बाबूजी मास्साब भांडेर के मिडिल स्कूल के दोनों, विख्यात और कुख्यात गणित के अध्यापक थे। वे बहुत अच्छे टीचर होने के नाम से विख्यात थे और गलती करने पर हड्डी-पसली बराबर करने के लिए कुख्यात भी थे। आठवीं बोर्ड की परीक्षा थी और मैं गणित को लेकर ऐसा घबराता रहता था कि बस। परीक्षा में सारे सवाल हल करने के बाद अचानक ही आखिरी घण्टे में एक अध्यापक ने आकर दरवाज़ा उड़काया और जल्दी-जल्दी तीन सवाल बोर्ड पर हल करके नकल करा दी। मेरे दो सवालों का उत्तर आधा था। मैंने भी नकल करके मास्साब का हल लिख मारा। वास्तव में मास्साब गलत थे। मेरा लिखा पहले का ही उत्तर सही था। परीक्षा में बहुत कम नम्बर आए गणित में। गणित का डर वास्तव में मेरे आत्मविश्वास की कमी के कारण था।

आज मैं जानता हूँ कि मेरे ज़्यादातर डर मूर्खता, नासमझी, आत्मविश्वास की कमी, अन्धविश्वास और मन में पैदा हुए भ्रमों के कारण थे। मैं आज कह सकता हूँ कि इनसे बचना चाहिए, पर बचपन में यही डर कितने बड़े और वास्तविक लगते थे।

— ज्ञान चतुर्वेदी, भोपाल (लेखक, व्यंग्यकार, चिकित्सक)

यहाँ तो टपके ही टपके हैं...

किस चीज़ से डर लगता है? अरे भैया, पूछो कि किस चीज़ से नहीं लगता। डर लगता नहीं है, बल्कि वह तो लगा ही रहता है। उठते, बैठते, सोते, जागते। हमसे भले तो कहानी के बुढ़िया और शेर हैं जिन्हें केवल एक टपके का डर था। यहाँ तो टपके ही टपके हैं।

पानी खत्म हो जाने का, बिजली चले जाने का, मकान मालिक घर से न निकाल दे, गाड़ी में हों तो एक्सीडेंट का डर और पैदल चलो तो कोई ठोंक न दे इसका डर। रास्ते में कुत्ता पीछे न लग जाए। और अभी मन्दी का दौर चल रहा है सो कभी-कभी नौकरी जाने का डर। तो हर चीज़ से डर लगता है।

पहले पढ़ाई से बहुत डर लगता था। पहली में था तो स्कूल

नहीं जाता था। एक दिन पिताजी जबरन ले गए। मास्टर साब ने पूछा पढ़ोगे नहीं तो क्या भैंस चराओगे? हमने सोचा यह तो आसान काम है। "हाँ" बोलो, पढ़ाई से पीछा छूट जाएगा। पर ऐसी कहीं होता है। और फिर तो हर साल फेल होने का नहीं पास होने का डर लगा रहता था। पास हो गए तो अगली कक्षा की किताबें पढ़नी होंगी। जैसे-तैसे पढ़ने लगे तो गणित डराने लगा। फिर गणित के मास्टर और उनके मोटे रूल। फिर अँग्रेज़ी ने डराया। अब तक डराती है। पर, भला हो इस मातृभाषा का जो अपन को अच्छे से आती है। सो, वो बीच-बीच में चुम्मी लेती रहती है।

जब घर में नया-नया टेलीफोन लिया था तो उसकी घण्टी से बहुत डर लगता था। पता नहीं कब कोई अशुभ समाचार लेकर आ जाए! लोग उसका उपयोग भी तो तभी करते थे जब कोई मुसीबत आती थी।

सच कहूँ तो अब सबसे ज़्यादा डर मौत से लगता है। अपनी नहीं, औरों की। पर भैया अपन तो शोले के गब्बर की बात याद रखते हैं – जो डर गया, समझो मर गया। तो डर को दूर से ही सलाम, नमस्ते!

— राजेश उत्साही, बैंगलोर (लगभग 20 साल चकमक का सम्पादन किया। फिलहाल अज़ीम प्रेमजी फाण्डेशन में काम कर रहे हैं।)

मेरे पूरे बचपन के पाँवों में लिपटा रहा साँप का डर

पश्चिमी उत्तर प्रदेश का गाँव, गंगा घाटी की उपजाऊ ज़मीन, पेड़, बाग, झाड़ियों, जंगली घास के साथ-साथ नहरों के किनारे उगे घने झाड़-झंकाड़। इनमें अनगिनत साँप होने ही थे। कदम-कदम पर दिखते भी थे। और उनके किस्से भी दादी रोज़-रोज़ सुनाया करती थीं। "इधर मत जाना, इधर फनिया साँप रहता है। जाओ तो लाठी-डण्डे से खट-खट करते जाना। मारना नहीं। ये हमारे परदादा हैं।" साँप घर, खेत, जंगल के हर बीहड़ कोने में थे। मारने की कड़ी मनाही थी क्योंकि यदि मारा तो साँप की आँख में मारने वाले की तस्वीर रह जाती है और फिर नाग या नागिन बदला लेकर ही रहते हैं। बड़े-बड़े किस्सों के साथ ऐसी बातें ठीक दोपहरी में नीम के नीचे सुस्ताते हुए या रात को सोने के वक्त बताई जातीं। नतीजा, रात को सपनों में भी साँप ही नज़र आते। साँप मेरे बचपन की हकीकत भी थे। गाय, भैंस को भूसा डालने के लिए जैसे ही भूसे के ढेर को छुआ कि महाराज फुँफकार रहे हैं। मारे तो मुश्किल, न मारो तो मुश्किल। बारिश के दिनों में तो अति हो जाती। आगे-आगे चूहा, पीछे-पीछे साँप दौड़ रहा है। जंगल की कोठरी खुली तो कोने में लिपटे पड़े हैं। बहुत साल बाद जब शरत चन्द्र का उपन्यास *श्रीकान्त* पढ़ा तो साँपों को इतनी बारीकी से जानने, मारने के कारनामे बहुत याद आए।

साँपों के इसी संग और डर ने उन्हें बेधड़क मारने की हिम्मत और होशियारी भी पैदा की। शायद यह आक्रोश ही रहा कि आखिर कब तक डरते रहेंगे। फिर तो कहीं साँप या उसकी पूँछ भी दिखाई दे जाती तो उसे मारकर ही दम लेता। साथी भी इस पवित्र काम में उतना ही मज़ा लेते। भैंस, जानवर एक तरफ चरते रहते और दूसरी तरफ हम कण्डे-उपले इकट्ठे करके साँप का दाहकर्म करते। उसकी राख से यह भी पक्का हो जाता कि उसकी आँख में हमारी तस्वीर नहीं बनी।

—प्रेमपाल शर्मा, दिल्ली (लेखक)

अकेलेपन से निकलते बाकी डर...

एक बात बड़ी मज़ेदार है। बचपन में मुझे बीमारी से कभी डर नहीं लगा। बल्कि मैं तो उसका इन्तज़ार करता था। बीमार होना मुझे मेरे बचपन के सबसे बड़े डर से एक झटके में छुटकारा दिला देता था। इस डर के कई नाम थे... स्कूल, होमवर्क, गणित, गुलशन सर आदि-आदि। आश्चर्य नहीं कि बचपन में मैं बहुत बीमार होता था! सबसे ज़्यादा पेट खराब और बुखार। पापा मीठी-मीठी होमियोपैथी की दवाइयाँ खिलाते थे। और अगर गला खराब हो या सर्दी का असर हो जाए तो शहद के साथ सीतोपलादी चूर्ण खाने को मिलता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि बीमारी के अलावा मुझे और कभी शहद खाने को नहीं मिला। पता नहीं क्यों? लेकिन खराब गले का शहद-सीतोपलादी से कोई सीधा सम्बन्ध था और ऊपर से खूब सारा प्यार और दुलार मिलता, सो अलग! तो मेरे लिए बीमारी का या किसी शारीरिक परेशानी का डर से कोई लेना-देना नहीं है।

मुझे लगता है कि दुनिया का सबसे बड़ा डर अकेलेपन का डर होता है। अपनी पहचान के खो जाने का, अपनी दुनिया से बिछुड़ने का डर। हमारे बाकी तमाम डर इससे ही निकलते हैं। इंसान के भीतर के डरों और इच्छाओं को जानने का सबसे अच्छा ज़रिया होते हैं – सपने। मेरा सबसे डरावना सपना हमेशा से वो रहा है जिसमें मैं अकेला छोड़ दिया गया हूँ। या तो किसी अनजान जगह पर अनजान लोगों की भीड़ से घिरा हूँ। और मौत मेरे सामने है। और मौत हमेशा उस रूप में सामने होती है जिससे मुझे सबसे ज़्यादा डर लगता है... जैसे ऊँचाई का डर। यहाँ भी मौत से ज़्यादा डर का कारण अकेला पड़ जाना होता है। ऐसे में अक्सर मैं जागने की कोशिश करता हूँ। लेकिन कभी-कभी सपने के भीतर अचानक ऐसा लगता है कि यह सपना नहीं हकीकत है और वह अहसास इतना खतरनाक होता है कि क्या बताऊँ!

सपनों से कुछ हटकर बात करूँ तो कुछ डर मुझे मेरी माँ से विरासत में मिले हैं, जैसे, छिपकली से डर। मज़े की बात यह है कि साँप से मुझे कुछ खास डर नहीं लगा कभी! हालाँकि मैंने अपने बचपन में बहुत नज़दीक से साँप देखे हैं। लेकिन अगर कमरे में छिपकली हो तो मैं चैन से सो नहीं पाता खासकर तब तक जब तक वो मेरी नज़रों के सामने रहे

— मिहिर, दिल्ली (दिल्ली विश्वविद्यालय में एमफिल के छात्र)

डर है कि जाता ही नहीं..

मुझे लगता है डर उम्र के साथ बहुत तेज़ी से बदलते हैं। कभी-कभी तो लगता है कि उम्र के साथ हमारे डर ही बदलते या गहरे होते जाते हैं। और अक्सर उम्र बढ़ने का एकमात्र प्रमाण भी वही हो जाते हैं। जैसे कि जब मैं छोटा था तो मुझे मरने से डर नहीं लगता था...ऊँची-ऊँची सीढ़ियों से कूद जाता था, या बिना सोचे-समझे सड़क पार कर लेता था, या जिसे आज की भाषा में कहा जाता है "आसानी से रिस्क ले लेता था!" एक दफा तो अपनी माँ के स्कूल की पहली मंज़िल से कूदने पर मेरी कमर की हड्डी भी हिल गई थी, एक साल तक इलाज चला था। पर लगता है आज मेरा सबसे बड़ा डर मरने का या किसी भी तरह की शारीरिक चोट का ही है। आज मैं बहुत सम्भलकर सड़क पार करता हूँ। हमेशा अपने आस-पास को लेकर सचेत रहता हूँ... मुम्बई की लोकल ट्रेन में लोगों को देखता रहता हूँ कि कहीं कोई संदिग्ध इरादों वाला ना दिख जाए। इस नए डर में पिछले कुछ सालों से बढ़े आतंकवाद का हाथ भी हो सकता है, पर मुझे इसमें ज़्यादा हाथ अपनी उम्र का ही लगता है। कई बार तो मैं अपने कमरे में, सर के ऊपर घूम रहे पंखे से भी डर जाता हूँ कि कहीं यह गिर ना पड़े। जबकि आज तक मैंने सिर्फ एक बार, काफी साल पहले, एक रेस्टोरेंट में पंखा गिरते देखा है (वो भी किसी को लगा नहीं था!), फिर भी जाने क्यूँ, यह डर मुझे अक्सर परेशान करता है। मैं पंखे के नीचे से हटकर, थोड़ा किनारे बैठ जाता हूँ...। फिर खुद पे हँसता भी हूँ, पर सच यही है कि यह डर फिर भी जाता ही नहीं है...

— वरुण ग्रोवर, मुम्बई (फिल्मों की पटकथा लिखते हैं।)